मई १९९४ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा

आओ, बुद्ध को समझें और उनकी शिक्षा को समझें।

भगवान बुद्ध की पौराणिक और अलौकिक व्याख्या के धुँवासे में अक्सर उनका सही व्यक्तित्व धूमिल हो जाता है और ऐसे ही धूमिल हो जाती है उनकी कल्याणकारी शिक्षा। हम ऐसा न होने दें, इसी में सब का कल्याण समाया हुआ है।

गौतम बुद्ध हमारे देश के एक ऐतिहासिक महापुरुष हुए। उनके तथा उनकी शिक्षा के बारे में वास्तविकता की खोज करनी हो तो उनकी अपनी वाणी का सहारा लेना उचित है, न कि किसी अन्य के कथन का। औरों का कथन सही भी हो सकता है और अपनी मान्यताओं के रंगीन चश्मे से देखा गया हो तो गलत और भ्रामक भी। भगवान बुद्ध की मूल वाणी अपने देश में लगभग डेढ़-दो हजार वर्षों से विलुप्त हो गयी। परंतु सौभाग्य से पड़ोसी देशों में यहां से जैसी गयी, उसे वहां ठीक वैसे ही अपने शुद्ध रूप में सँभाल कर रखा गया। इतने लंबे अंतराल के बाद वह भारत में पुनः लौटी है। हमें उसका लाभ लेना चाहिए। भारत के इस अनमोल ऐतिहासिक साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में अनेक तथ्य स्पष्टतया उजागर होते हैं।

१ – बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम अनेक जन्मों के परिश्रम पुरुषार्थ द्वारा पारमिताओं का याने भवसागर से पार उतरने के लिए आवश्यक धर्मगुणों का परिपूर्ण संचय-संग्रह कर इस अंतिम जन्म में सम्यक रूप से संबुद्ध बने याने स्वयं बुद्ध बने। किसी की कृपा द्वारा ऐसा नहीं हुआ।

२ – गौतम बुद्ध भगवान कहलाए। आज के भारत की सामान्य भाषा में भगवान का अर्थ ईश्वर या परमात्मा हो गया है। परंतु २६ शताब्दी पूर्व के भारत की जन भाषा में इसका अर्थ कुछ और ही था। बुद्ध-वाणी स्पष्टतया कहती है कि **"भग्ग-रागो, भग्ग-दोसो, भग्ग-मोहो ति भगवा।"** जिसने अपने राग भग्न कर लिए, द्वेष भग्न कर लिए, मोह भग्न कर लिए, वह भगवान है। इस अवस्था को प्राप्त कर कोई भी व्यक्ति भगवान बन सकता है।

३ – भगवान बुद्ध कोई दार्शनिक नहीं थे। न उनकी कोई दार्शनिक मान्यता थी और न ही उन्होंने कोई दार्शनिक मान्यता स्थापित की थी। जब किसी ने उनसे पूछा कि आप की दार्शनिक मान्यता क्या है? तो उन्होंने कहा, **"दिट्ठिगतं ति खो वच्छ, अपनीतमेतं तथागतस्स"**

हे वत्स, तथागत की दार्शनिक मान्यताएं दूर हो गयी हैं।

यानि वे दार्शनिक मान्यताओं से ऊपर उठ गये हैं।

उन्होंने इस तथ्य को भलीभांति जान लिया था कि भिन्न-भिन्न लोग अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यता में किस प्रकार जकड़े रहते हैं।

तदेव थामसा परामासा अभिनिविस्स वोहरन्ति।

इसी को दृढ़तापूर्वक आसक्तिजन्य अभिनिवेश से पकड़े रहते हैं।

वे आसक्ति-वश इतने अंधे हो जाते हैं कि अपनी मान्यता को तो सच मानते हैं और दूसरे की मान्यता को झूठ।

इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं – यही सत्य है, अन्य सब झूठ है।

सभी लोकप्रचलित दार्शनिक मान्यताएं बुद्धिजन्य कल्पनाओं पर अथवा अधूरी अनुभूतियों पर आधारित हैं। अतः सर्वथा सत्य न होने के कारण हानिकारक हैं, दुखदायी हैं।

अत्थि मे अत्ताति वा अस्स सच्चतो दिट्ठी उप्पज्जति।

मेरी आत्मा है और यह सच है, (यों काया-चित्त से संबंधित किसी कल्पना के आधार पर) एक दार्शनिक मान्यता उपजती है।

और फिर अपने आप के प्रति गहरी आसक्ति होने के कारण यह मान्यता प्रचलित हो जाती है कि –

अयं अत्ता निच्चो, धुवो, सस्सतो –

यह आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शास्वत है।

अविपरिणामधम्मो – अपरिवर्तनशील स्वभाववाली है।

अतः जैसी है, जन्म-जन्मांतरों तक

तथेव ठस्सतीति – वैसी ही बनी रहती है।

इस प्रकार की सभी दार्शनिक मान्यताओं के बारे में भगवान कहते हैं,

इदं वुच्चति, भिक्खवे, दिट्ठिगतं।

भिक्षुओं, इसे कहते हैं दार्शनिक मान्यताओं में जा पड़ना।

दिट्ठिगहनं – यह दार्शिनिक मान्यता का घना जंगल है।

दिट्ठिकन्तारं –दार्शनिक मान्यताओं का कांतार है, मरुधर है।

दिट्ठिविसूकं –दार्शनिक मान्यताओं का क्रीड़ा-किलोल है, खेल है, दिखावा है।

दिट्ठिविप्फन्दितं – दार्शनिक मान्यता की फड़कन है, तड़पन है।

दिट्ठिसञ्ञोजनं – दार्शनिक मान्यता का फंदा है, बंधन है।

ऐसी मान्यताओं में जकड़ा हुआ व्यक्ति

न परिमुच्चति दुक्खस्माति वदामि।

मैं कहता हूं कि दुःख से मुक्त नहीं होता।

भगवान इस बात को बड़े दावे के साथ कहते हैं। कारण स्पष्ट है। जब तक आत्मभाव, अहंभाव कायम रहेगा, 'मैं मेरे' का संयोजन कायम रहेगा, तब तक भवमुक्त कैसे होगा? भवमुक्ति बिना दुक्ख-मुक्त कैसे होगा? अपने अस्तित्व को कायम रखने की तीव्र लालसा के आधार पर ही वह ऐसी काल्पनिक मान्यताओं से जुड़ा रहता है। इस कारण उसका अस्मिताभाव उसे किसी न किसी लोक से बांधे रखता है। क्योंकि यही उसकी मनभावनी कल्पना है। इसीलिए भगवान ने कहा कि ये सारी मान्यताएं खतरनाक हैं, हानिकारक हैं।

मञ्ञितं, भिक्खु, रोगो – हे भिक्षु, मान्यता रोग है।

ऐसा भवरोग है जो जन्म-जन्मांतरों तक रोगी बनाए रखता है।

मञ्ञितं गण्डो – मान्यता फोड़ा है।

ऐसा नासूर है जो जन्म-जन्मांतरों तक रिसता रहता है।

मञ्ञितं सल्लं – मान्यता शल्य है।

ऐसा तीर है जो जन्म-जन्मांतरों तक बींधता रहता है और पीड़ित करते रहता है।

दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर संप्रदायों की स्थापना होती है। दार्शनिक मान्यताओं में उलझे हुए ऐसे संप्रदाय, सभी समाजों में होते हैं। उन दिनों के भारत में हम देखते हैं,

तेन खो पन समयेन – उस समय

सम्बहुला नाना तित्थिय-समण-ब्राह्मण-परिब्बाजका –

बहुत से भिन्न-भिन्न संप्रदायवादी जो श्रमणों में से भी थे, ब्राह्मणों में से भी थे और परिब्राजकों में से भी थे,

सावत्थियं पटिवसन्ति – श्रावस्ती में रहते थे। वे

नाना-दिट्ठिका – नाना प्रकार की दार्शनिक मान्यता मानने वाले थे।

नाना-खन्तिका –नाना मतमतांतरों को मानने वाले थे।

नाना-रुचिका –नाना रुचि वाले थे और

नाना-दिट्ठिनिस्सयनिस्सिता –

नाना प्रकार की दार्शनिक मान्यताओं पर आश्रित थे।

ते भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना –

वे लड़ते-झगड़ते हुए, कलह करते हुए, विवाद में पड़े हुए,

अञ्ञमञ्ञं – एक दूसरे को

मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति –

मुखरूपी बरछी से बींधते-छेदते रहते हैं।

दार्शनिक मान्यताओं में उलझे हुए ऐसे लोग अपनी-अपनी मान्यता को ही धर्म कहते हैं, जबकि उन्होंने धर्म की वास्तविकता देखी तक नहीं, उसे अनुभव पर उतारा तक नहीं। इसीलिए भगवान ने कहा –

ते अंधा अचक्खुका – वे अंधे हैं, प्रज्ञाचक्षु-विहीन हैं अतः

अत्थं न जानन्ति, अनत्थं न जानन्ति।

न अर्थ जानते हैं, न अनर्थ जानते हैं।

धम्मं न जानन्ति, अधम्मं न जानन्ति।

न धर्म जानते हैं, न अधर्म जानते हैं।

यों अर्थ को अर्थ न जानते हुए, अनर्थ को अनर्थ न जानते हुए, धर्म को धर्म न जानते हुए, अधर्म को अधर्म न जानते हुए, तर्क-वितर्क वाद-विवाद करते हुए परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते हैं।

जो धर्म को अनुभूति के स्तर पर जान लेगा वह इस प्रकार के निकम्मे निरर्थक दार्शनिक वाद-विवादों में कैसे उलझेगा?

भगवान बुद्ध ने लोकीय और लोकोत्तर सभी धर्म-नियमों की सच्चाइयों का स्वयं साक्षात्कार कर लिया था। अतः वे मान्यताओं का जीवन न जीकर, जान्यताओं का जीवन जीते थे। लोगों को भी इसी प्रकार सच्चाई की प्रत्यक्षानुभूति कर जान लेने का पाठ पढ़ाते थे। किसी सुनी-सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई बात के प्रति आसक्त हो कर उलझनों में न पड़ जाने की शिक्षा देते थे। साधक जब स्वयं अनुभव करेगा तो ही उसके लिए जान्यता वाला दर्शन होगा, सम्यक दर्शन होगा। अन्यथा महज मान्यता वाली फिलोसफी बन कर रह जाएगा। समस्त एएंद्रिय क्षेत्र की सच्चाई का स्वानुभूति के स्तर पर यथाभूत दर्शन करेगा तो देखेगा कि यह सारा क्षेत्र अनित्यधर्मा है, दुःखधर्मा है, अनात्मधर्मा है। परिणाम स्वरूप इसके प्रति तादात्म्यभाव टूटेगा, आसक्ति टूटेगी। स्थितप्रज्ञता के बल पर अनासक्तभाव पुष्ट होगा। बुद्ध ने यही स्वानुभूतिजन्य सम्यक दर्शन सिखाया, दार्शनिकों वाला दर्शन नहीं। इसीलिए समस्त बुद्ध-वाणी में **"बौद्ध दर्शन"** शब्द कहीं ढूंढे भी नहीं मिलेगा।

४ – भगवान बुद्ध संप्रदायवादी नहीं थे। उन्होंने अपना कोई संप्रदाय स्थापित नहीं किया था। उन्होंने देख लिया था कि चाहे ब्राह्मणों के हों, श्रमणों के हों अथवा परिब्राजकों के हों, सभी संप्रदाय मान्यताओं पर आधारित हैं। इसलिए मानव की आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हैं। समाज की सौमनस्यता में बाधक हैं। परस्पर झगड़ा-फसाद करवाने वाले हैं।

५ – भगवान बुद्ध एक महान वैज्ञानिक थे। उन्होंने स्वानुभूति पर उतरा हुआ विज्ञानसम्मत धर्म सिखाया। अंधविश्वासों पर आधारित सांप्रदायिक धर्म नहीं। उन्होंने स्वयं अपनी अनुभूतियों पर उतरी हुई सच्चाइयों का अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से विभाजन, विघटन और विश्लेषण करते हुए प्रकृति के सनातन नियमों का दर्शन किया और इस जानकारी से लाभ उठाकर स्वयं अपना कल्याण साध लिया तथा इसी सत्य की स्वानुभूति का लाभ उठा सकने के लिए औरों को प्रेरित किया। इस निमित्त सही मार्ग-निर्देशन दिया।

प्रकृति का शास्वत नियम ही धर्म है। उसको जीवन में उतारना ही धर्म का जीवन जीना है। यह धर्म सार्वजनीन है, सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है यानि सनातन है, सदा बना रहनेवाला है। इसका किसी संप्रदाय से लेन-देन नहीं है। धर्म सब का है। हिंदू-धर्म, बौद्ध-धर्म आदि आदि संयुक्त शब्दों में से हिंदू, बौद्ध जैसी भ्रामक संज्ञाएं निकाल दें तो केवल शुद्ध धर्म रह जाय। यही भारत का पुरातन सनातन वैज्ञानिक धर्म है जो कि दार्शनिक बुद्धिकिलोल और सांप्रदायिक हठधर्मी के कारण समय-समय पर लुप्त हो जाता है। जो भी व्यक्ति शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से अनुसंधान करता हुआ, इसकी सच्चाई को ढूंढ निकालता है, वह अत्यंत करुणचित्त से लोक कल्याण के लिए इसी का प्रज्ञापन करता है। भगवान बुद्ध ऐसे ही कल्याणकारी धर्म-प्रज्ञापक थे। उन्होंने जो सिखाया उसे **"धर्म"** कहा, न कि **'बौद्ध-धर्म'**। सारी बुद्ध-वाणी में न **"बौद्ध"** शब्द मिलता है, न **"बौद्ध-धर्म"** । जैसे अपनी शिक्षा को उन्होंने **'धम्म'** (धर्म) कहा, वैसे ही उस शिक्षा के पालकों को **धम्मिको** (धार्मिक), **धम्मट्ठो** (धर्मिष्ठ), **धम्मि** (धर्मी), **धम्मचारी** (धर्मचारी) और **धम्मविहारी** (धर्मविहारी) कहा।

६ – भगवान बुद्ध ने अपने आप को भिषक कहा, वैद्य कहा, चिकित्सक कहा। वह सचमुच एक अद्वितीय मनोचिकित्सक थे। एक कुशल वैद्य की भांति उन्होंने रोग को जाना, रोग के कारण को पहचाना, उस कारण को दूर करने का उपाय ढूंढ निकाला और उसके समुचित प्रयोग द्वारा कारण का निवारण कर रोग को दूर करने में सफल हुए। जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु के भव-रोग से दुखी व्यक्ति को, अनचाही के होने और मनचाही के न होने के दुःखों से दुखी व्यक्ति को इन दुखों से मुक्त होने की सहज सरल विधि बताई, जिसके अभ्यास से कोई भी दुखी व्यक्ति दुख-मुक्त हो सकता है, चाहे वह अपने आप को हिंदू कहे या बौद्ध, ब्राह्मण कहे

या शूद्र, भारतीय कहे या अँग्रएज, आत्मवादी कहे या नैरात्मवादी, ईश्वरवादी कहे या निरीश्वरवादी। सांप्रदायिकता-विहीन सार्वजनीन नैसर्गिक सनातन धर्म किसी का पक्षपात नहीं करता। जो धारण करे वही नैसर्गिक सच्चाइयों का साक्षात्कार कर दुखमुक्त हो जाता है। जितना-जितना धारण करे, उतना-उतना दुखमुक्त हो जाता है।

उन महाभिषक ने इस भव-विमुक्ति की विधि को विपश्यना कहा। विपश्यना माने विशेषरूप से देखना। भोक्ताभाव से नहीं, बल्कि तटस्थभाव से देखना। अपनी साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर क्षण-प्रतिक्षण जो सत्य प्रगट हो रहा है, उस पर किसी दार्शनिक मान्यता का अथवा सांप्रदायिक अंधविश्वास का रंग-रोगन चढ़ाए बिना वह जैसा है, उसे यथाभूत वैसा ही देखना।

इस विद्या का अभ्यास करने के लिए शारीरिक और वाचिक दुराचरण से विरत रहते हुए सहज स्वाभाविक नैसर्गिक श्वास के आवागमन को देखकर मन को एकाग्र करने का अभ्यास सिखाया। तदनंतर अपनी प्रज्ञा जगाकर यानि अपना प्रत्यक्ष ज्ञान जगा कर अपने भीतर की सच्चाइयों का निरीक्षण करना सिखाया।

जब कोई व्यक्ति शील और समाधि की बुनियाद पर आधारित प्रज्ञा जाग्रत करने वाली इस विपश्यना विद्या का अभ्यास आरंभ करता है तो उसे बहुत शीघ्र अपने भीतर चित्त और शरीर का या उन दिनों की भाषा में कहें तो नाम और रूप का सारा प्रपंच समझ में आने लगता है। इन दोनों का अंतर्द्वन्द स्पष्ट होने लगता है। किस प्रकार दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं, यह स्पष्ट दीखने लगता है।

आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा और मन की इन छहों इंद्रियों का अपने-अपने विषयों के संपर्क में आने पर भीतर ही भीतर शरीर और चित्त के स्तर पर जो हलन-चलन आरंभ होती है, उसे यथाभूत देखते-देखते साधक उस अवस्था तक जा पहुँचता है, जहां अपने अंतर्मन के स्वभाव-शिकंजे को बहुत स्पष्ट समझने लायक हो जाता है। वह देखता है कि सुखद अनुभूति होने पर राग की और दुखद अनुभूति होने पर द्वेष की प्रतिक्रिया करते रहने का यह स्वभाव-शिकंजा कितना दृढ़ है, कितना खतरनाक है। इस स्वभाव-शिकंजे के कारण ही प्रिय अनुभूति को प्राप्त करने और प्राप्त हो गई हो तो उसे बनाए रखने की तृष्णा तथा अप्रिय को न उपजने देने और उपज गई हो तो दूर करने की तृष्णा बलवान होती रहती है। यों राग और द्वेषमयी तृष्णा बढ़ती है और उसके आधार पर अन्य भिन्न-भिन्न विकारों का प्रजनन ही नहीं होता, बल्कि उनका संवर्धन भी होते रहता है। मानस में इन विकारों का प्रजनन दुखदायी है, इनका संवर्धन और अधिक दुखदायी है। यह प्रकृति का अटूट नियम है जो सब पर लागू होता है। कोई अपने को हिंदू कहे या बौद्ध, प्रकृति किसी का लिहाज नहीं करती। जो अपने मन में विकार जगाता है वही बेचैन हो जाता है। दुखियारा हो जाता है। यह सार्वजनीन रोग है, सार्वजनीन व्याकुलता है। इसे दूर करने के लिए किसी संप्रदाय में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं। किसी दार्शनिक मान्यता को अंधविश्वास के साथ स्वीकार कर लेने की आवश्यकता नहीं, जाति गोत्र और वर्ण के आधार पर किसी को ऊंचा या नीचा मान लेने की आवश्यकता नहीं। जैसे यह रोग सार्वजनीन है, वैसे ही इसका इलाज भी सार्वजनीन है। यही भगवान बुद्ध की शिक्षा है। कोई व्यक्ति अपने भीतर की सच्चाई को तटस्थभाव से देखना सीख जाय तो विकारों का संवर्धन बंद कर ले। आगे जा कर विकारों का प्रजनन ही बंद कर ले। तब विकारों के पुराने संग्रह की उदीरणा होनी शुरू हो जाय। विकारों की निर्जरा होनी शुरू हो जाय, उनका क्षय होना शुरू हो जाय। यों होते-होते उस अवस्था पर पहुँच जाय, जहां कि –**खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं।**

सारे पुराने मनोविकार क्षीण हो गये और नयों का प्रजनन नहीं होता। ऐसा व्यक्ति अपने भीतर समस्त भंगुर क्षेत्र का अनुभव करता हुआ, उसका अतिक्रमण कर उस नित्य शास्वत ध्रुव अविनाशी परम सत्य का अनुभव कर लेता है, जिसे कोई भले निर्वाण कहे या मुक्ति या मोक्ष। ऐसा व्यक्ति भव-संसरण से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है। अतः सर्वथा दुःखमुक्त हो जाता है।

उनकी इस व्यावहारिक शिक्षा को भी किसी एक परंपरा की मान्यता के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार नहीं कर देना चाहिए। इसका अभ्यास करना चाहिए और साथ-साथ स्वयं जांच कर देखते रहना चाहिए कि इस अभ्यास से मनोविकार कम हो रहे हैं या नहीं। मनोविकारों का स्वभाव-शिकंजा ढीला पड़ रहा है या नहीं। इस अभ्यास से जितना-जितना प्रत्यक्ष लाभ होता जाय, बस उतना-उतना ही स्वीकारे। जितना जाने, उतना ही माने। यही उस महान वैज्ञानिक धर्मगुरु की धर्म-शिक्षा थी और इसी वैज्ञानिक शिक्षा के बल पर पुरातन भारत विश्वगुरु के रूप में सम्मानित हुआ। आज भी विश्व भर में जो इस शिक्षा का अभ्यास करते हैं वे इसका प्रत्यक्ष लाभ अनुभव करते हैं। उन्हें किसी सांप्रदायिक बाड़े में बँधने की आवश्यकता नहीं होती, किसी दार्शनिक मान्यता के प्रति चिपकाव पैदा करने की आवश्यकता नहीं होती। जो सच अनुभूति पर उतरा, बस उसे ही नैसर्गिक सनातन धर्म जान कर स्वीकारे और वैज्ञानिक मुक्ति-पथ पर बढ़ता चला जाय।

जैसे-जैसे धर्म के इस शुद्ध पथ पर साधक आगे बढ़ता जाता है, उसे संप्रदाय-संप्रदाय के नाम पर; जाति, वर्ण, गोत्र के नाम पर; प्रदेश-प्रदेश के नाम पर समाज का विभाजन निकम्मा, निरर्थक लगने लगता है, हानिकारक लगने लगता है। वह खूब समझने लगता है कि सब का रोग एक ही है। जिसका भी चित्त विकार-ग्रस्त हुआ वही रोगी हो गया और जिसका भी चित्त विकार-विमुक्त हुआ वही रोग-मुक्त हो गया। इसमें कोई संप्रदाय क्या करेगा? कोई दार्शनिक मान्यता क्या करेगी? कोई वर्ण-विभाजन क्या करेगा? कोई कर्मकांड क्या करेगा? कोई वेशभूषा क्या करेगी? सीधी सादी वैज्ञानिक बात है, इसी रूप में इसे देखना चाहिए। इसी रूप में स्वीकारना चाहिए। इसी रूप में इसे अनुभूति पर उतारना चाहिए।

ऐसा करेंगे, तो ही बुद्ध और बुद्ध की शिक्षा को सही परिप्रेक्ष्य में देख समझ सकेंगे अन्यथा वाद-विवादों के अखाड़े में अपनी भी हानि कर लेंगे, औरों की भी हानि ही करेंगे। आओ इस हानि से बचें और भगवान बुद्ध को समझें, भगवान बुद्ध की शिक्षा को समझें और उसे धारण कर अपना कल्याण साध लें!

कल्याण मित्र,
स.ना.गो.